

शिवप्रसाद सिंह के साहित्य में राजनीति और विचारधारा

Poonam^{1*} Dr. Sumitra Chaudhary²

¹ Research Scholar, Ph.D. in Hindi, OPJS University, Churu, Rajasthan

² Research Director, Assistant Professor, Hindi Department, OPJS University, Churu, Rajasthan

सार – राजनीति के लिए विचारधारा का होना अत्यन्त जरूरी है। बिना विचारधारा के या बिना प्रतिबद्धता के राजनीति असंभव है। अतः जब कोई साहित्यकार अपने साहित्य में समकालीन राजनीति के चित्र उतारता है उसकी कमियाँ या उसकी अच्छाईयाँ की ओर संकेत करता है तो इसका मतलब यह हुआ कि वह भी कहीं न कहीं प्रतिबद्ध जरूर है क्योंकि बिना कोई मापदण्ड अपनाए वह अच्छाई या बुराई का फैसला नहीं कर सकता। इस विषय में स्वयं डॉ. शिवप्रसाद सिंह का मानना है कि “आज से कुछ वर्ष पहले तक, जब साहित्यकार की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर माथापच्ची किया करते थे। उन दिनों यह फैशन था।

-----X-----

आज सभी प्रतिबद्धता की बात करते हैं लेखक के कहीं न कहीं बंधने के प्रश्न पर लोग चिन्तित हैं। मैं सोचता हूँ कि एकाएक यह परिवर्तन क्यों आ गया।[1] डॉ. सिंह मानते हैं कि हिन्दी का लेखक यों भी बहुत वीतराग और स्थितप्रज्ञ हुआ करता है। उससे साहित्य के अलावा कहां क्या हो रहा है, इसमें दिलचस्पी कम ही होती है इसीलिए चीनी आक्रमण के समय हिन्दी के अमुक साहित्यकार इस समस्या पर कुछ लिखना-पढ़ना बेजा बात समझते थे, क्योंकि उन्हें लगता था कि इसे साहित्यिक वातावरण में लपेटना शुद्ध साहित्य के आसन से खिसकना हो जाएगा। मैं यह नहीं कहता कि इन समस्याओं पर लिखना-पढ़ना साहित्यकार का कर्तव्य होना चाहिए। मैं तो सिर्फ इस बात की ओर इशारा भर कर रहा हूँ कि हिन्दी के अधिकांश प्रबुद्ध साहित्यकार ज्वलन्त सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों से अलग रहना उचित समझते हैं।[2] स्वतन्त्रता के पहले इस देश के साहित्यकारों की स्थिति ऐसी नहीं थी। यद्यपि यह आज सार्वजनिक रूप से कहा जाता है कि छायावादी कवि व्यक्तिवादी, समाजभूरी, एकान्तखोजी और पलायनवादी थे, किन्तु उसके पूरे साहित्य को उलटने-पलटने वाला हर पाठक जानता है कि शायद ही कोई ऐसा छायावादी हो जिसने राष्ट्रीय गौरव का गान न किया हो, बलि पंथी को अपनी श्रद्धांजलि न दी हो, विकेकानन्द के धार्मिक अभियान से गौरव का अनुभव न किया हो हिमाद्रि तुंग श्रंग से स्वतन्त्रता की पुकार न सुनी हो। वह कहीं सामाजिक यथार्थ की ओर ज्यादा रुझान रखने वाला हुआ, तो गरीबी, दीनता और शोषण जैसी समस्याएं भी उसे कुरेदती रहीं और एक जमाना आया कि यथार्थवाद की ओर ज्यादा झुकाव रखने वाले छायावादी लेखकों ने अधिकांश प्रगतिवाद के पथ पर निःसंकोच चल पड़े।

प्रगतिवाद के बाद नवलेखन शुरू हुआ जिसमें व्यक्ति स्वतन्त्रता पर बल दिया गया। नवलेखन चूँकि प्रगतिवादी शिविर-साहित्य के प्रतिरोध में जन्मा था, इसलिए स्वभावतः इसमें राजनीति से विरक्त लोगों का प्रवेश हुआ। राजनीति प्रगतिवाद के साथ अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ी हुई मानी जाती थी, फलतः प्रतिक्रिया में राजनीति से उदासीनता स्वाभाविक थी। किन्तु यह उदासीनता राजनीति के प्रति ही नहीं, मानव नियति से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति भी बनती रही और बढ़ती गयी। मूल्यों के स्थान पर मूल्य निरपेक्षता की बातें होने लगी। सामाजिक मर्यादाएं, जो नए से नए समाज के लिए भी उसकी ऐतिहासिक परिणति के अनुसार आवश्यक होती हैं, त्याज्य और विगह्य बनती गयीं।

इस स्थिति में अचानक प्रतिबद्धता का प्रश्न उभरकर सामने आया। हर जीव की प्रतिक्रिया होती है। इतिहास चेतना में उसे पुनरावर्तन का सिद्धान्त कहते हैं। मूल्य-मूढ़ता और मूल्य निरपेक्षता की इस स्थिति में प्रतिबद्धता का प्रश्न हिन्दी में नाना अर्थ, संभावनाएं और भ्रातियां लेकर खड़ा हुआ है। प्रतिबद्धता का प्रश्न उनके लिए उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जो किसी निश्चित पार्टी, राजनीति या व्यवस्था से प्रतिबद्ध है। वहां प्रतिबद्धता सोचने-विचारने की चीज ही नहीं है। वे जिस राजनीतिक पार्टी के लिए प्रतिबद्ध हैं, उसके गलत-सही सभी कर्मों की अन्ध स्वीकृति ही उनका धर्म बन जाती है। इसलिए उनके लिए न तो कहीं शंका की गुंजायश है और न उसकी आत्मा में प्रतिबद्धता के प्रति कोई सन्देह या मनोमंथन ही जगता है। ये पक्षधर होते हैं प्रतिबद्ध नहीं। इस विषय में डॉ. सिंह ने ‘साइलान’ लेखक प्रतिबद्धता की धारणा को बताते हुए

स्पष्ट किया है। “वह लेखक जो प्रतिबद्ध है, जो प्रतिबद्धता के लिए व्यक्तिगत कर्म स्वीकार करता है, समाज का होता है राज्य का नहीं। उसे किसी रूढ़ आदेश को स्वीकार नहीं करना चाहिए। वह लेखक जो ईमानदारी से अपनी कार्यचेतना से प्रतिबद्ध है और अपने प्रति सच्चा होने की इच्छा रखता है अवश्य मानव की सेवा में या अपनी जाति के साथ रहे।”[3]

शिवप्रसाद सिंह का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका मानना है कि राजनीति साहित्यकार के लिए बेकार की चीज है किन्तु आधुनिक समाज राजनीति से परिचालित है। राजनीति के हर निर्णय का सीधा प्रभाव समाज पर पड़ता है। समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है और साहित्य में भी इन्हीं लोगों की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए साहित्यकार राजनीति से अलग नहीं है सकता। डॉ. सिंह भी कहीं-न-कहीं राजनीति से अवश्य जुड़े रहे हैं पर वे किसी पार्टी या दल के पक्षधर नहीं हैं। विद्यार्थी जीवन में डॉ. सिंह कांग्रेस पार्टी से जुड़े रहे। स्वयं लोक मानता है कि जमनियां का रेलवे स्टेशन फूंक देने से सरकार ने जिस तरह से हमारे गांव व परिवार के लोगों को तंग किया और परिवार वाले जिस तरह हर रोज हमें गालियां देते थे उससे बड़ा अपराध बोध हुआ किन्तु जब नेहरू जी ने जेल से छूटते ही सारे आन्दोलन की जिम्मेवारी अपने ऊपर ली तो हमें बड़ा सुकून मिला। लेखक स्वयं मानता है कि स्वतन्त्रता के पूर्व कांग्रेस ही एक पात्र सुसंगठित दल था।”[4] आजादी के बाद कांग्रेस के कार्यक्रमों से डॉ. सिंह सहमत नहीं थे। अतः उन्होंने कांग्रेस से किनारा कर लिया। इस समय तक डॉ. सिंह का लेखन कार्य शुरू नहीं हुआ था।

लेखन की शुरुआत के साथ ही डॉ. सिंह पर मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ा और यह प्रभाव पड़ा और यह प्रभाव ‘नीला चांद’ कृति में उभरकर आता है। डॉ. सिंह अपनी पुरस्कृत कृति ‘नीला चांद’ पर दिए गए वक्तव्य में स्वयं स्वीकार करते हैं कि “1975 में इलाहाबाद के साहित्यकार सम्मेलन में मेरे पर्चे को बन्ने भाई यानि सज्जाद जहरी ने बहुत सराहा था। मैं मार्क्सवादी था। 50 प्रतिशत तो अब भी हूँ। ‘नीला चांद’ उपन्यास में मार्क्सवाद की ‘वर्ग-संघर्ष’ और ‘मूल्य सिद्धान्तों’ की मान्यता को दर्शाया गया है। अस्पृश्य वर्ग का मार्मिक उल्लेख और भीषण युद्ध के पश्चात् शव हटाने की समस्या को लेकर डोम हड़ताल कर देते हैं और उनकी हड़ताल के सामने या एकबद्धता के सामने अन्ततः स्वर्णों को झुकना पड़ता है।”[5] यह प्रसंग मार्क्सवाद से प्रभावित लगता है। संघर्ष को जातियों में वह भी शोषण और शोषित में, बिल्कुल उसी दिशा की ओर ले जाता है। इसी संदर्भ में तन्तुवायों की दशा का वर्णन भी देखा जा सकता है, जो अन्य तमाम व्यवसायों से जुड़े कारीगरों की यथास्थिति का प्रतिनिधित्व करता है। सामाजिक मर्यादा के नाम पर भरत जैसे डोमों आदि के लिए तो

अछूतोद्धार वगैरह जैसा बहुत कुछ किया, कराया गया, पर ऐसे ही अन्य लोगों को अनदेखा किया गया। जो बिचारे सारी मेहनत, हस्त कौशल से सब कुछ करते हैं, बनाते हैं, अपनी पुश्तैनी कला को जिन्दा रखने की निष्ठा के साथ समाज की विविध जरूरतें पूरी करते हैं, वे लेखक के साख्य पर कुल कीमत का पन्द्रह प्रतिशत भी नहीं पाते और मध्यम (दलाल) तथा बड़े व्यापारी सारा लाभ खींच कर लखपति बन जाते हैं। इस व्यवसायिक शोषण की तरह उस जमाने के राजाओं का ध्यान नहीं।”[6] यह तथ्य डॉ. सिंह को मार्क्सवाद की ओर ले जाता है। मार्क्सवाद का मूल्य सिद्धान्त यहां लागू होता है। किन्तु शीर्ष ही डॉ. सिंह का मार्क्सवाद से मोहभंग होना शुरू हो गया। इसका कारण मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों में आपसी खींचातानी या प्रतिष्ठा के वर्चस्व के लिए संघर्ष भी हो सकता है। किन्तु डॉ. सिंह का जवाब है कि “जब मार्क्सवाद का रूप भाई-भतीजावाद लेने लगा, मार्क्सवाद के नाम से जोड़कर तरक्की पसन्द अदब में प्रतिबद्धता से जुड़े विज्ञापनों को साहित्य कहकर उछाला जाने लगा, तब उस खेमे के समीक्षकों को मेरे मतभेदों को सहना मुश्किल होता गया। वे फासीवादों पौशाक में अवतरित होने लगे तो प्रतिबद्धता की संकुचित रज्जु को तोड़ने के लिए झटके मारने जरूरी हो गया।”[7] और डॉ. सिंह का मार्क्सवाद से मोहभंग हो गया।

शिवप्रसाद सिंह का झुकाव बाद में समाजवाद की ओर हुआ। और स्वयं मानते भी हैं कि “मैं समाजवादी हूँ, था और रहूँगा। अपने अन्तर्जन्म की पुकार को मानना कमजोरी नहीं है। हालांकि वक्त ने मुझे अब नास्तिक बना दिया है। मैं देवी-देवता, मंत्र-तंत्र, काला जादू को ठोकर मार चुका हूँ इसलिए मैं साहस के साथ कहता हूँ कि ‘कैपिटल’ और कठोपनिषद् को जोड़ने से ही सच्चा समाजवाद मिलता है।”[8] डॉ. सिंह प्रजातान्त्रिक समाजवाद में आस्था रखते हैं और उनकी यही कोशिश रही है कि अपनी रचनाओं के माध्यम से इसके सूक्ष्म रूप को अधिक से अधिक स्पष्ट कर सके और भारतीय समाज और धरती में इसके विकास के प्रयत्नों में अपना जो कुछ भी यत्किंचित सहयोग हो सकता है, दें। समाजवाद की ओर झुकाव का दूसरा कारण मार्क्सवाद से मोहभंग होना भी है। समाजवादी नेता लोहिया के मार्क्सवाद विरोधी चिन्तन की अनुभूति जब-तब शिवप्रसाद के साहित्य में भी सुनाई दे जाती है। समाजवादी राजनीति चिन्तकों में डॉ. सिंह पर लोहिया का बड़ा प्रभाव है और लोहिया के एक संघीय शासन के फार्मूले का वर्णन लेखक ने ‘नीला चांद’ उपन्यास में किया भी है। लोहिया के मन में भारतवर्ष की एकता की बात थी। इसलिए लोहिया संघीय शासन के पक्षधर थे। डॉ. सिंह राष्ट्रीय चेतना के हास के फलस्वरूप पराधीनता की बेड़ियों में राष्ट्र के जकड़े जाने की

स्थिति और संभावनाओं पर विचार करते हुए उनके दो कारण मानते हैं। दोनों समाजवाद की नीतियों पर आधारित है। पहला तो छोटे-छोटे झगड़ों के कारण छोटी सत्ताओं का उदय और दूसरा केन्द्रीय सत्ता का अभाव। इसके इतिहास में जाकर वे यह महसूस करते हैं कि इस अलगाववादी प्रवृत्ति का कारण है व्यक्तिगत अहंकार और उनकी दृष्टि में इसका हल है सबका एकजुट प्रयास। गोपाल के पूछने पर कीरत का उत्तर इसका प्रमाण है: “प्रतिहारों के साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट होने के बाद जो सत्ताएँ उत्तरी भारत में उभरी हैं, वे विनाश पर सृजन की थोथी कोशिशें कर रही हैं, उनके सामने राष्ट्र, संस्कृति और कला का कोई महत्त्व नहीं है, वे छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हैं, उनके लिए आर्यावर्त की गरिमा की रक्षा कर्तव्य नहीं है। केवल व्यक्तिगत अहंकार को तृप्त करने के लिए परस्पर युद्ध में रत हैं वे। इसका सिर्फ एक विकल्प है कि या तो समग्र आर्यावर्त में एक नया साम्राज्य बनें या सभी राजवंश मिलकर एक अभेद्य संघ का निर्माण करें, जो आज की परिस्थिति में सम्भव नहीं लगता।”[9] डॉ. सिंह की दृष्टि में वर्ग विभाजन का भाव हमारी परतन्त्रता का दूसरा कारण है- “जात-पात, सामन्त, भृत्य सैंकड़ों तरह से विभक्त लोग क्या कर पाएंगे? क्या यह जर्जर ढांचा तुर्कों के अटूट संगठन और धार्मिक उन्माद को रोक पाएगा।”[10] अप्रासंगिक जर्जर, रूढ़ सामाजिक व्यवस्था न केवल राष्ट्र की अपितु समूची मानव जाति की शत्रु है। डॉ. सिंह इस समस्या का समाधान समाजवादी तरीके से करते हैं। समाजवाद में सभी व्यक्ति बराबर हैं, का सिद्धान्त भी आलोच्य उपन्यास में अपनाया गया है। विद्याधर और कीर्तिवर्मा दोनों ही जनता से जुड़े शासक हैं। सूरज गोंड, बब्बर नट, भरत डोम, माणिक गोंड और लोचन आदि से कीरत, गोपाल, अनन्त आदि के जो सम्बन्ध हैं वे आत्मीय और सस्नेह के हैं। एक जगह सूरज गोंड कीरत से कहता है- “राजा और निकट आजा। प्राण से प्राण, मन से मन और तन से तन मिलाकर प्रजा के भीतर खो जा।”[11] कभी विद्याधर देव से भी उनके प्रधानामात्य शिवनाग ने कहा था- “ये गिरीजन, आख्यक कबीले आपको उसी रूप में स्वीकार करते हैं जैसे औघड़ शिव के गण अपने स्वामी कालेश्वर रुद्र की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं।”[12] कीरत इसी परम्परा में आगे बढ़ा हुआ है-आदिवासी सूरज गोंड को वह ‘काका’ कहता है, बब्बर नट को चाचा और लोचन गोंड को ‘शूद्र’ शब्द की नयी व्याख्या करती है- “तू मत भूल कि गहिर्त लोग जो अपनी सड़ांध छिपाने के लिए जाति का सहारा लेते हैं, अपने को ब्राह्मण या क्षत्रिय कहते हैं और तुम लोगों को शूद्र कहते हैं, वे वस्तुतः नीच और मनुष्यता विरोधी हैं।”[13] प्रस्तुत कथन समाजवाद की नीतियों का ही प्रतिफलन है और डॉ. सिंह पर समाजवाद के प्रभाव के कारण ही यह इनके साहित्य में स्थान पा सका। अपने निबन्धों में डॉ. सिंह ने एक जगह लिखा है कि “मैं सांस्कृतिक केन्द्र का एक कार्यकर्ता हूँ। मैं लोहिया के

आदर्शों को व्यक्तिगत तुला पर तोलता हूँ। यदि उनका यथार्थ और उनकी सांस्कृतिक समझ मेरे मन को स्वीकार्य होती है, तो मैं अपने आप लोहिया से जुड़ जाता हूँ। लोहिया से जुड़ने के लिए कर्मकाण्ड की जरूरत नहीं पड़ी, मुझे जिस दिन पड़ेगी, शायद उस दिन लोहिया को भी वैसे ही लात मार दूंगा, जैसे माक्र्स को मारा था।”[14] और हुआ भी यही लोहिया की मृत्यु के बाद डॉ. सिंह को समाजवाद से वितृष्णा हो गई क्योंकि समाजवाद का नाम धारण करने वाले तथाकथित समाजवादियों ने भी वही किया जो भ्रष्ट राजनेता कर रहे थे। समाजवादी नेता कर्मकाण्डी हो गए थे इसलिए डॉ. सिंह ने इसे भी त्याग दिया।

शिवप्रसाद सिंह के अन्तिम दो उपन्यासों के आने पर लगता है कि उनकी विचारधारा में परिवर्तन हुआ है। इन उपन्यासों को पढ़ने से लगता है कि डॉ. सिंह हिन्दूवादी हो गए हैं किन्तु उनकी विचारधारा जनसंघियों की विचारधारा से थोड़ी भिन्न है। इसीलिए ‘कुहरे में युद्ध’ उपन्यास में एक पात्र भगवाधारियों को कहता है कि “महाराज, आप लोग इस वस्त्र को पहनना छोड़ दें क्योंकि हम इस वस्त्र का सम्मान करते हैं और आप इसे पहनकर राजनीति करके इसे अपवित्र कर रहे हैं। अगर आप इसे पहनना नहीं छोड़ेंगे तो हमें कुछ करना पड़ेगा।”[15] सुल्तान अल्लमश धर्म के नाम जेहाद छेड़ता है उसी के जवाब में आनन्द वाशेक भी वैसा ही करता है। यह सब हिन्दूवादी राजनीति का ही प्रतिफल है।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने किसी भी विचारधारा को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। लेखक स्वयं इस बात को स्वीकार करता है- “मैं पूर्णतः (इन टोटो) किसी को स्वीकार नहीं करता-किसी को भी। न तो मैंने लोहिया को इन टोटो स्वीकार किया, न तो श्री अरविन्द को किया, न ही माक्र्स को किया। सवाल है कि जितना हिस्सा मेरे पल्ले पड़ता है, ईमानदारी से वही मैं स्वीकार या अस्वीकार कर सकता हूँ क्योंकि उस व्यक्ति के किस मूड और किस अवस्था में वे चीजें लिखी थी, जब तक मुझे वह बोध नहीं है, मैं उन चीजों का मतलब क्या समझ सकता हूँ। इसलिए बहुत विनम्रता से, जो चीजें मुझे उपयोगी लगती हैं, वो मैं ले लेता हूँ।”[16] अतः डॉ. सिंह किसी भी राजनीतिक विचारधारा से पूर्णतः बन्धे हुए नहीं हैं। साहित्य में उनका उतना हिस्सा लेते हैं जितना समाजोपयोगी होती हैं। इसीलिए बार-बार विचारधारा को बदलना पड़ता है। यह परिवर्तन समसामयिक होता है और समाज सापेक्ष होता है। हिन्दूवादी विचारधारा कब तक कारगर सिद्ध होगी यह तो आने वाला साहित्य ही बताएगा। यह सवाल भविष्य में गर्भ में छिपा हुआ है।

संदर्भ सूची:

1. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ. 28
2. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ. 28
3. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, आधुनिक परिवेश और नवलेखन, पृ. 34
4. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, मानसी गंगा, पृ. 202
5. वही, नीला चांद, पृ. 419
6. (संपा) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, दस्तावेज, पृ. 27
7. डॉ. शिवप्रसाद, क्या कहूं कुछ कहा न जाए, पृ. 21
8. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, कहा कहूं कुछ कहा न जाए, पृ. 157
9. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, नीला चांद, पृ. 16
10. वही
11. वही, पृ. 150
12. वही, नीला चांद, पृ. 363
13. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, नीला चांद, पृ. 538
14. वही, पृ. 337
15. वही, मेरे साक्षात्कार, पृ. 95
16. डॉ. शिवप्रसाद सिंह, मेरे साक्षात्कार, पृ. 186

Corresponding Author**Poonam***

Research Scholar, Ph.D. in Hindi, OPJS University,
Churu, Rajasthan